धर्म, समाज और विस्वासः

धर्म उस तत्व का नाम है जिससे वस्तु विशेष अस्तित्व में आती है और जिसकी हानि होने पर वस्तु विशेष का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। शरीर का अस्तित्व उसकी आत्मा से है अतः आत्मा शरीर का धर्म है। वस्तु विशेष को उसके धर्म से अलग भी नहीं किया जा सकता अर्थात धर्म वस्तु विशेष में ही निहित होता है। यह अपरिवर्तनशील तथा समय के प्रभाव से परे होता है। उदाहरण के लिए इंसानियत है तो इंसान है, खेती करता है तो किसान है आदि। यहॉं पर इंसानियत इंसान का और खेती करना किसान का धर्म है। सरलता के लिये हवा देने से पंखा अस्तित्व में आता है और हवा न दे तो पंखे का अस्तित्व खत्म हो जाता है अर्थात् पंखा पंखा नहीं रहता, अतः पंखे का धर्म है, हवा देना। वस्तु विशेष चाहे प्रकट हो या अप्रकट प्रत्येक का धर्म होता है, जो उस वस्तु विशेष की धुरी का काम करता है। जिस प्रकार धुरी खराब होने पर पहिया दिशाहीन हो जाता है उसी प्रकार वस्तु विशेष भी धर्मपरायण न होने पर दिशाहीन हो जाती है।

व्यक्ति विशेष या समुदाय समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए रीति-रिवाज व्यवस्था, रहन-सहन व्यवस्था, खान-पान व्यवस्था, उपचार व्यवस्था, कानून व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था आदि भौतिक व्यवस्थाओं को अपनी भाषा में पिरोता है जिस पर वातावरण, जलवायु व पर्यावरण आदि के प्रभाव के कारण ये व्यवस्थायें अलग-अलग हो सकती हैं। समाज क्षेत्रीय या देश स्तर का हो सकता है। धीरे-धीरे ये व्यवस्थायें समुदाय में विश्वास (Religion) का रूप ले लेती हैं। भाषा का शब्द कोष समाज का विकाश दर्शाता है। अलग-अलग समाज की भाषा अलग-अलग हो सकती हैं इसीलिए एक ही वस्तु को अलग-अलग शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। जैसे हिन्दी में 'जल', अरेबिक में ' अलमा' और अंग्रजी में 'वाटर' आदि पानी के अलग-अलग नाम हैं लेकिन इन सबका मतलब एक ही होता है। उसी तरह सूरज तो एक ही है लेकिन हिन्दी में सुर्य, अंग्रेजी में 'सन' तथा अरेबिक में 'शमस्' कहते हैं। दूसरी तरफ कुछ अक्षर और शब्द किसी भाषा में होते हैं और किसी भाषा नहीं । उदाहरणतः अंग्रेजी भाषा में च, छ, झ, भ, ण आदि अक्षर नहीं हैं। च का ch, झ का jh आदि से काम चलाया जाता है उसी तरह इसमें प्रेम, धर्म तथा अन्य शब्द भी नहीं हैं। हम अंग्रेजी के 'लव' शब्द को प्रेम शब्द मानते हैं जबकि 'लव' हिन्दी भाषा में आसक्ति का पर्यायवाची शब्द है जिसका भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने खामियॉं सहित विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। 'लव' भौतिक शब्द है और प्रेम आध्यात्मिक शब्द है। प्रेम को भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयम् अपना स्वरूप दिया है। आत्मा, धर्म, जीव, प्रेम आदि आध्यात्मिक शब्द हैं जिनको भौतिक रूप में प्रयोग करना अनुचित है।

विश्वास धीरे-धीरे सभ्यता व संस्कृति में परिवर्तित हो जाता है। समाज की सभ्यता व संस्कृति की परिपक्वता उसकी भाषा से प्रदर्शित होती है। भारतीय संस्कृति एक शोधित संस्कृति है लेकिन हम अपने अज्ञान के कारण इसका सद्उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। किसी भी भाषा का सद्प्रयोग करना बुरा नहीं है, लेकिन उसकी संस्कृति को सोच समझकर ही अपनाना चाहिए क्योंकि किसी भी भाषा के प्रयोग करने से उसकी संस्कृति से अलग रह पाना बहुत कठिन हो

जाता है। सभ्यता, संस्कृति तथा विश्वास व्यक्ति विशेष या समुदाय से अस्तित्व में आते हैं न कि व्यक्ति विशेष या समुदाय इनसे। सभ्यता, संस्कृति या विश्वास में समयानुसार परिवर्तनशीलता का आभास भी होता है। अतः हिन्दू व अन्य सभी, व्यक्ति विशेष या समुदाय के धर्म की परिधि में नहीं आते हैं।

धर्म की उत्पत्ति कर्म से होती है (गीता अध्याय 2ः श्लोक-31,32,33)। वस्तु विशेष जिस अवस्था में होती है वही अवस्था उसका कर्तव्य निर्धारित करती है और उस कर्तव्य को निष्ठापूर्वक निष्काम भाव से परिपूर्ण करना ही वस्तु विशेष के धर्म का रूप ले लेता है। सरलता के लिए, जब जल शीतलता प्रदान करता है तो जल की अवस्था शीतल होती है और जब ताप प्रदान करता है तो जल की अवस्था गर्म होती है। यहाँ पर शीतलता व ताप जल की भिन्न-भिन्न अवस्था में जल के धर्म हैं। अर्जुन क्षत्रिय था। क्षत्रिय का कर्तव्य युद्ध में कुशलता हांसिल करना, धैर्य रखना, पराक्रमी होना, प्रजा पालन करना, दान करना व अधिकारिक भूमि की रक्षा करना आदि था। श्रीमद्भगवद् गीता में अर्जुन को इन कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक मोह, आसक्ति, संशय व फल इच्छा से रहित होकर अर्थात् हानि-लाभ, सुख-दुख, व जय-पराजय आदि से परे होकर स्वधर्म का पालन करने का उपदेश दिया जिससे उसका कल्याण हो सके और धर्म हानि से बच सके। यदि वह धर्मानुसार युद्ध न करता और भीख मांग कर या संन्यास लेकर जीवन यापन करता तो वह दिशाहीन हो जाता, उसके लिए शाँति भंग हो जाती, निंदा का पात्र बनता, पाप का भागी बनता (गीता अध्याय 3ः श्लोक-16), और क्षत्रियता का अस्तित्व उसके लिए खत्म हो जाता। यदि वह धर्ममय युद्ध करता है और आततायी अर्थात् विष देने वाला, घातक हथियार से हमला करने वाला, धन लूटने वाला, दूसरे की भूमि हड़पने वाला व पराई स्त्री का अपहरण करने वाला आदि का वध करता है तो यश का भागी बनेगा, सुख भोगेगा और यदि स्वधर्म का पालन करते हुए युद्ध में मारा जाता है तो निश्चित ही स्वर्ग लोक की प्राप्ति होगी(गीता अध्याय 3ः श्लोक-37)। समय परिवर्तनशील है आज का अर्जुन देश की किसी सरहद पर हो सकता है या फिर किसी कार्यालय में कार्यरत हो सकता है। चाहे कोई भी परिस्थिति में हो, हर हाल में हमको अर्जुन बनना है। गीता हमें यही उपदेश देती है। पेड़, पौधे, जल, भूमि, सूरज, आदि अपना-अपना धर्म निभा रहे हैं लेकिन मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसको हर युग में उसके धर्म को समझाना पड़ता है जिसके लिये उसको प्रभु के कोप का भागी भी बनना पड़ता है।

आत्मा, जीव, शरीर व प्रकृति के सम्बन्धः

श्रीमद्भगवद् गीता आत्मा व जीव का आध्यात्मिक विज्ञान है (गीता अध्याय 8ः श्लोक-3,4) जो किसी व्यक्ति विशेष या समुदाय के विश्वास से परे है। जीव भौतिक शरीर नहीं है। उदाहरणतः यदि किसी व्यक्ति के पास मारूति कार है, निश्चित ही कार उसने मारूति कम्पनी से खरीदी होगी। व्यक्ति कार को खरीदने के कारण अपनी कहता है और कार को जिस तरह चलाये चला सकता है। यदि मारूति कम्पनी कार न बनाती तो क्या व्यक्ति मारूति कार खरीद सकता। निश्चित ही जबाब 'नहीं' होता। अतः कार तो मारूति कम्पनी की ही रहेगी, केवल व्यक्ति उसको खरीदने के कारण कार का सद्प्रयोग या दुरप्रयोग कर सकता है। कार दुर्घटना ग्रस्त होने पर व्यक्ति को ही भुगतना पड़ता है, मारूति कम्पनी को नहीं। जिस प्रकार मारूति कम्पनी विभिन्न कल पुर्जों को मिलाकर तरह-तरह की कार बनाती है उसी तरह जीव

अपने कर्मफलों से आत्मा के द्वारा पाँच तत्वों को मिलाकर तरह-तरह का शरीर प्राप्त करता है और केवल इसका सद्प्रयोग या दुरप्रयोग कर सकता है। सरलता के लिए शरीर आत्मा का है न कि शरीर की आत्मा। दूसरे शब्दों में शरीर का मालिक आत्मा है। जब जीव शरीर धारण करता है अर्थात् जब जीव व्यक्त होता है तो व्यक्ति को अमुक नाम दे कर सम्बोधित किया जाता है। व्यक्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त विभिन्न परिस्थितियों का सामना करता है। जिस तरह आत्मा हानि-लाभ, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, भय, राग, द्वेष, आदि से परे है श्रीमद्भगवद् गीता में जीव को आत्मिक होने की शिक्षा दी है अर्थात् विभिन्न परिस्थितियों में एक समान रहने की शिक्षा दी है। प्रत्येक जीव का परम लक्ष्य जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाना है जिसका श्रीमद्भगवद् गीता में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। अतः यह ज्ञान सबके लिए उपयुक्त है।

प्रकृति दो प्रकार की होती है (गीता अध्याय 7: श्लोक-4,5,6)। अपरा अर्थात् जड़ या अचर प्रकृति जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार आते हैं (गीता अध्याय 7: श्लोक-4) और दूसरी परा अर्थात् जीव या चर (गीता अध्याय 7: श्लोक-5)। जीव परमात्मा का भिन्न अंश होने के फल स्वरूप जीव को जीवात्मा भी कहते हैं। परा व अपरा दोनों ही परमात्मा की नित्य, शाश्वत व अनादि शक्तियॉं हैं और परमात्मा ही इनके स्वामी हैं। प्रकृति परमात्मा के अधीन होकर अचर और चर के संयोग मात्र से भौतिक सृष्टि बनती और चलती है (गीता अध्याय 7: श्लोक-6,7) । सृष्टि में सभी विविधताओं का मूल कारण माया (रज, तम व सत्व गुण) है। परमात्मा सभी शक्तियों के श्रोत व आश्रय होते हुए भी इनमें लिप्त नहीं है। अतः वे द्वैत और अद्वैत से परे हैं।

आत्मा सो परमात्मा, शरीर में जीव के अलावा एक अन्य दिव्य भोक्ता है, जो ईश्वर है, परम स्वामी है और साक्षी तथा अनुमति देने वाले के रूप में विद्यमान है (गीता अध्याय 13: श्लोक-23)। आत्मा को मन व वाणी से परे होने के कारण परिभाषित नहीं किया जा सकता। आत्मा निर्विकार, निर्गुण व इंद्रियों से परे (गीता अध्याय 13: श्लोक-32), इंद्रियों का श्रोत है (गीता अध्याय 13: श्लोक-15)। आत्मा असीम, अनन्त और गुणों की खान है जिसका विश्लेषण करना सरल होते हुए भी असम्भव है। उदाहरणतः समुद्र का पानी क्षारीय या खारा है। इसको हम सादा पानी से तुलना करके पता कर सकते हैं। सादा पानी में क्षारीय गुण नहीं होते और समुद्र के पानी में होते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि समुद्र का पानी खारा है। लेकिन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कण- कण आत्मा के कारण है। एक भी कण उसके बिना नहीं है। अतः आत्मा का वाह्य रूप (भौतिक) से विश्लेषण कर पाना असम्भव है। लेकिन जिस प्रकार कण-कण आत्मा का है अर्थात् आत्मा के कारण है (गीता अध्याय 7: श्लोक-6) उसी तरह ये शरीर भी आत्मा का है। अतः शरीर के अन्दर झॉंक कर अर्थात् आध्यात्मिक होकर आत्मा की कृपा से आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

आत्मा सृष्टि पैदा करती है, सृष्टि चलाती है और सृष्टि का संहार भी करती है (गीता अध्याय 13: श्लोक-17)। ब्रह्मा, विष्णु व महेश आत्मा के स्वरूप हैं (गीता अध्याय 10: श्लोक-23,21,33) व (गीता अध्याय 11: श्लोक-15)। आत्मा ज्ञान का सागर है (गीता अध्याय 10: श्लोक-10) और जीव की सखा एवम् गुरू भी (गीता अध्याय 10: श्लोक-10,11; गीता

अध्याय 9ः श्लोक-18)। जब जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर कोई गलत् कर्म करता है तो आत्मा जीव को टोकती है अर्थात् अन्दर से आवाज आती है (गीता अध्याय 13ः श्लोक-23)। व्यक्ति इसको महसूस करता है लेकिन जीव काम आसक्त होने के कारण आत्मा की आवाज को अनसुनी कर देता है और भय, मोह आदि के कारण अपने आप को आत्मा से अलग-थलग रखता है। गुरू शिष्य का नाता होने के कारण आत्मा जन्म- जन्म जीव को सुधारने में लगी रहती है। यह दया का सागर है। जब जीव आत्मा के प्रति समर्पित हो जाता है तो आत्मा जीव को अपना गुण तक प्रदान कर देती है अर्थात् जीव को जन्म- मृत्यु से मुक्त कर देती है (गीता अध्याय 14ः श्लोक-19)। यह उन्हीं जीवों का कल्याण करती है जो स्वयम् अपना कल्याण चाहते हैं। अतः जीव को अपने कल्याण के लिए गुरू, सद्गुरू, आत्मा, परमात्मा अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण को समर्पित करना ही पड़ेगा (गीता अध्याय 10ः श्लोक-8) । जिस किसी को यह ज्ञान हो जाता है वह मोह रहित व समस्त पापों से मुक्त हो जाता है (गीता अध्याय 10ः श्लोक-3) ।

प्रत्येक वस्तु विशेष अप्रकट या प्रकट सभी आत्मा के कारण हैं अर्थात् आत्मा की हैं (गीता अध्याय 10ः श्लोक-39)। यदि जीव आसक्ति, मोह, स्वार्थ, लालच, अहंकार आदि से युक्त होकर किसी वस्तु विशेष पर अधिकार के लिए कर्म करता है तो आत्मा जीव को कष्ट में डाल देती है और यदि जीव निष्काम भाव से अर्थात् फल इच्छा व आसक्ति रहित होकर वस्तु विशेष के लिए कर्म करता है तो आत्मा जीव पर सब कुछ न्यौछावर कर देती है। यही आत्मा के जीव के प्रति सखा रूप हैं। निष्कर्ष यह है कि जीव जो भी खा रहा है, देख रहा है, सूंघ रहा है, स्पर्श कर रहा है, शब्दार्थ कर रहा है आदि सब आत्मा के कारण हैं और आत्मा के द्वारा संचालित किये जा रहे हैं। यदि जीव इनमें मैं या मेरा जोड़ देता है तो खुद को कष्ट में डाल लेता है। अतः केवल इन सभी के साथ आत्मा को साक्षी मान कर कर्म करने में ही जीव की समझदारी है। सरलता के लिए , सड़क खोदने वाला मजदूर जब अपनी दिहाड़ी पर जाता है तो सड़क खोदने में प्रयोग करने वाले औजार तसला व कुदाली या तो ठेकेदार से लेता है या फिर किराये पर लाता है और या फिर खुद पैसे देकर लाता है। यदि इन औजारों को सावधानी से, ध्यान रखकर कि औजार ठेकेदार के हैं , किराये पर लाया हूँ या खुद पैसा खर्च किया है; सड़क खोदने में प्रयोग करता है तो सॉय होते ही अपनी पूरी दिहाड़ी लेकर खुशी से घर बापस चला जाता है और यदि वह असावधानी से औजारों का प्रयोग करता है या फिर उनका दुरप्रयोग करता है तो खुद को और अपनी दिहाड़ी दोनों को परेशानी में डाल लेता है अर्थात् जीव आत्मा के दिए हुए शरीर का केवल सद्प्रयोग या दुर्प्रयोग कर सकता है और जिस तरह मजदूर अपना पुरूषार्थ अपने साथ ले जाता है उसी तरह जीव जब देह त्यागता है तो केवल उसके कर्मों के फल, जो उसके स्वभाव का रूप ले लेते हैं, ही उसके साथ जाते हैं और कुछ भी नहीं। इसीलिए श्रीमद् भगवद् गीता जीव को सफल होने के लिए निष्काम कर्म करने की शिक्षा देती है (गीता अध्याय 2ः श्लोक-39)।

जीव सूक्ष्म इंद्रियों से संगठित परमात्मा की परा शक्ति अर्थात चर प्रकृति है जो शाश्वत, अनादि, और आत्मा से परिपूर्ण है (गीता अध्याय 15ः श्लोक-7)। आत्मा अजन्मा, नित्य, पुरातन, अव्यय, अविकारी, अव्यक्त, अकल्पनीय, अपरिवर्तनीय, सर्वव्यापी, सम, अखण्डित, अघुलनशील, न जलायी जासकती है और न सुखायी जा सकती है (अध्याय 2ः श्लोक 20, 21, 23, 24, 25) । आत्मा माया से परे अर्थात् प्रकृति के गुणों से परे है तथा भय, मोह, राग, द्वेष

आदि दोषों से रहित व कर्म में लिप्त नहीं होती (गीता अध्याय 13ः श्लोक-14,15) जबकि जीव इन्द्रियों से संगठित होने के कारण माया और कर्म से घिरा हुआ है जिनके कारण जीव जीवन चक्र से बंधता है अर्थात् प्रकृति में ही जीवन व्यतीत करता है (गीता अध्याय 13ः श्लोक 21, 22) जीव जन्म लेता है अर्थात् रूप परिवर्तन करता है जबकि आत्मा जीवन देती है। (गीता अध्याय 7ः श्लोक-9,10) जिस प्रकार वस्तु या पदार्थ सूरज की किरणों के सानिध्य में आकर प्रकाशित हो जातें हैं उसी प्रकार आत्मा के सानिध्य में रहकर जीव समूह भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं (गीता अध्याय 7ः श्लोक-6,7)।

शरीर अस्थायी भौतिक वस्तु है जिसको जीव का कर्मक्षेत्र भी कहते हैं (गीता अध्याय 13ः श्लोक-2)। शरीर का गठन पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश); पांच ज्ञानेद्रिंयॉ (नेत्र, कान, नाक, जीभ व त्वचा); पांच कर्मेंद्रियॉ (वाणी, गुदा, हाथ, पैर व उपस्थ); मन (अन्तः इंद्री); अहंकार; बुद्धि; इंद्रिय विषय (रूप, रस, शब्द, स्पर्श व गंध) और अप्रकट रूप से तीन प्रकृति गुणों (रज, तम व सत्व) से होता है जिसमें इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, धैर्य, संघात व जीवन लक्षण नामक विकार व्याप्त हैं (गीता अध्याय 13ः श्लोक-6, 7)। आत्मा जीव को पूर्व कर्म फलों के अनुसार अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के प्रतिरूप स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर भिन्न-भिन्न योनियों के शरीरों से बांधती है और हृदय में विस्थापित होकर (गीता अध्याय 7ः श्लोक-21) माया रूपी ईंधन से इसका संचालन करती है।

जीव श्रद्धामय है जो अन्तःकरण में पायी जाती है। श्रद्धा रज, तम और सत्व तीन गुणों की संगति से प्राप्त होती है (गीता अध्याय 17ः श्लोक-2)। ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं (गीता अध्याय 14ः श्लोक-5) और श्रद्धा रूपी डाल पर फलते- फूलते रहते हैं। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका वैसा ही स्वभाव बन जाता है। तीनों गुण में अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए संघर्ष चलता रहता है और जिस गुण का श्रद्धा पर ज्यादा प्रभाव होता आया है (गीता अध्याय 14ः श्लोक-10) उस गुण के प्रभाव से जीव का उसी प्रकार का स्वभाव उत्पन्न होता है (गीता अध्याय 17ः श्लोक-3)। आत्मज्ञान अर्थात् अप्रकट व प्रकट सब कुछ आत्मा का और आत्मा के द्वारा ही संचालित हो रहा है जानकर जब जीव समभाव में स्थिति हो जाता है और निष्काम कर्म व भक्ति में लग जाता है, दूसरे शब्दों में जीव आत्मा के शरणागत अर्थात् आत्मपरायण हो जाता है तो जीव अपने स्वभाव को परिवर्तित कर सकता है। जीव का स्वभाव (प्रकृति) ही उसके कर्म करने की विधि निर्धारित करता है। जीव जिस जिस भाव में रहता है वही भाव उसमें समा जाते हैं और वैसे ही उसके कर्म करने के ढंग बन जाते हैं। जब जीव देह त्यागता है तो वही भाव जीव को अन्त समय में स्मरण आते हैं और जीव पर सवार हो जाते हैं (गीता अध्याय 8ः श्लोक-6)। आत्मा जीव सखा होने के नाते घोड़ा रूपी जीव को दिशा दिखाने व उसे मंजिल तक पहुॅचाने का काम करती है (गीता अध्याय 9ः श्लोक-18,7)। अतः जीव स्वयम् अपने जन्म का निर्माता है।

जीव प्रकृति दो प्रकार की होती है जिसको दैवी व आसुरी कहा जाता है। सरलता, निर्भयता, आत्मशुद्धि, दान, क्षमा, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन, अहिंसा, सत्यता, पवित्रता,

समस्त जीवों पर करूणा, लज्जा, तेज, दया, और मान-अपमान व ईर्ष्या से रहित आदि दैवी रूप भाव हैं जो मोक्ष के अनुकूल हैं (गीता अध्याय 16ः श्लोक-1,2,3)। इसके विपरीत अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान, इन्द्रियों की तृप्ति में लगे रहना, मोह से ग्रस्त होना आदि आसुरी भाव हैं जो बन्धन दिलाने वाले हैं (गीता अध्याय 16ः श्लोक-4,5)। आसुरी स्वभाव वाले प्राणी यह नहीं जानते कि क्या करना है और क्या नहीं। उनमें पवित्रता, न उचित आचरण और न ही सत्य पाया जाता है। उनके लिए यह जगत मिथ्या है, इसका कोई आधार नहीं है और यह ईश्वर द्वारा नहीं बल्कि कामेच्छा से उत्पन्न होता है। उनके लिए इंद्रियों की तृप्ति ही मानव सभ्यता की मूल आवश्कता है। ऐसे लोग मरण काल तक अपार चिंताओं में लिप्त रहते हैं तथा इच्छाओं के जाल में बँधकर और काम व क्रोध में लीन होकर इंद्रिय तृप्ति के लिए अवैध ढंग से धन संग्रह करते हैं। ऐसे प्राणी अपने आप को सभी वस्तुओं का स्वामी, भोक्ता, सिद्धि, शक्तिमान समझते हैं। इन सभी से मोहग्रस्त होकर ये अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और नरक में गिरते हैं। ये लोग शरीर में स्थित भगवान व वास्तविक धर्म की भी निंदा करने लगते हैं। ऐसे लोगों को आत्मा द्वारा आसुरी योनियों व भवसागर में डाला जाता है। (गीता अध्याय 16ः श्लोक-6,7,8,9,10,11,12,13,14,15,16,17,18,19) । काम, क्रोध व लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं जिनसे स्वयम् का पतन होता है। जो व्यक्ति इन नरक द्वारों से दूर हो जाता है वह आत्म साक्षात्कार के योग्य हो जाता है (गीता अध्याय 16ः श्लोक-21,22) ।

भाव, कर्म व जीवनः

जीवन में भाव का अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक वस्तु विशेष का भाव होता है और जिसमें भाव नहीं होता है उसका बना दिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि आप बाजार में सब्जी खरीदने जाते हैं तो उच्च कोटि की अर्थात् अच्छे गुण वाली सब्जी का भाव अधिक होगा, मध्यम कोटि का उससे कम और निम्न कोटि की सब्जी को या तो फेंक दिया जाता है या फिर उसका बहुत कम भाव होता है। सब्जी का भाव उसकी गुणवत्ता पर निर्भर करता है। लोग हैसियत अनुसार सब्जी खरीद ले जाते हैं अर्थात् सब्जी भाव अनुसार लोगों के घरों में जाती है। इसी तरह जमीन, पत्थर, ईंट, लकड़ी, गाय, भैंस, मनुष्य आदि का भाव होता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह परहितमय, निर्भीकमय, सत्यमय, आन्नदमय, क्षमामय, उत्साहमय, मंगलमय, आदि उच्च कोटि के भाव रखे ताकि उच्च कोटि का मनुष्य बन सके और उसका जीव अन्त समय में उच्च लोकों तक ले जाया जासके। जिसका जैसा भाव होता है वह वैसा ही बन जाता है, वैसे ही उसको सब कुछ नज़र आता है, वैसा ही उसको मिल भी जाता है और वैसा ही उसके साथ होता है क्योंकि जीव का भाव ही जीव के प्रति आत्मा का भाव निर्धारित करता है और फिर वही भाव आत्मा के द्वारा कार्य रूप में पर्णित किया जाता है (गीता अध्याय 4ः श्लोक-11)। सरलता के लिए, यदि किसी के भाव ईर्ष्या वाले हैं तो उसको दूसरी तरफ से भी ईर्ष्या मिलती है और प्रेम भाव के बदले प्रेम। कोई भी इसको अपने जीवन में अनुभव कर सकता है। वस्तु विशेष समयानुसार केवल रूप परिवर्तन करती है उसका अस्तित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् जो आज है वह कल भी रहेगा केवल रूप परिवर्तन होगा। परिवर्तन ही संसार का नियम है जिसको हम जीवन कहते हैं।

जीव जब देह त्यागता है तो जीव की नयी योनि भाव ग्रसित सूक्ष्म इंद्रियॉं के आधार पर होती है। जिस प्रकार पवन गन्दी जगह से गन्द धारण कर लेती है और सुगन्धित जगह से सुगन्ध। उसी प्रकार जीव कर्म रूपी क्षेत्र के भावों से ग्रसत सूक्ष्म इंद्रियॉं के साथ योनि धारण करता है (गीता अध्याय 15ः श्लोक-8,9)। उदाहरणतः नवजात शिशु , चाहे किसी का भी हो, वह स्वयम् भोजन/ दूध पीना चालू कर देता है क्योंकि भोजन करना उसके पूर्व जन्म का स्वभाव होता है। जीव के अन्य भाव भी पूर्व जन्मों से संबन्धित होते हैं। यदि जीव समभाव अर्थात् हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, पत्थर-स्वर्ण आदि में समान रूप से व्यवहार करता है अर्थात् समस्त परिस्थितियों में अविचिलित भाव से रहता है तो प्रकृति के तीनों गुणों से परे हो जाता है अर्थात् इन्द्रियों से परे हो जाता है अर्थात् माया जाल को पार कर लेता है (गीता अध्याय 14ः श्लोक-22,23,24,25)। और यदि समभाव रखते हुए भक्ति में लग जाता है तो ब्रह्म पद (गीता अध्याय 8ः श्लोक-7) अर्थात् अक्षर रूप के साथ-साथ परमब्रह्म अर्थात् परमात्मा का आश्रय भी प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में परम धाम प्राप्त कर लेता है (गीता अध्याय 14ः श्लोक-26,27)। अधिक सरलता के लिए यदि जीव इंद्रिय विषयों को विष की तरह छोड़ देता है तो जीव के भाव आसक्ति रहित हो जाते हैं अर्थात् जीव में अनासक्त भाव आ जाता है और अनासक्त भाव के साथ जब जीव भक्ति में लग जाता है तो जीव के कर्म भक्तिमय हो जाते हैं और कर्म भक्तिमय होने से जीव पाप मुक्त हो जाता है। जीव पाप मुक्त होते ही परमात्मा उसको अपनी शरण में ले लेता है। यदि जीव भक्ति में नहीं लगता तो जीव को दुबारा प्रकृति के गुणों में फस कर नीचे गिरने का भय बना रहता है।

सामान्यतः या तो व्यक्ति शारीरिक बोध होने के कारण शरीर सुख के लिए कर्म करता है अर्थात् अपने लिए आशियाना बनाता है, बच्चे पैदा करता है, उनके भोजन की व्यवस्था करता है और छीना-झपटी, मार-काट, लड़ाई-झगड़ा, मोह आदि में भी लिप्त रहता है। यह उसके कर्म क्षेत्र का रूप ले लेता है और यही व्यवहार उसको पशु योनि की तरफ धकेल देता है (गीता अध्याय 14ः श्लोक-15); या फिर भौतिक इच्छाओं के कारण बुद्धि दूषित होने पर या अल्प ज्ञान के कारण सुख, संबृद्धि पाने और दुःख कष्ट आदि को दूर करने के लिए किसी मानव, पित्र या देवता के प्रति श्रद्धा पैदा करता है और पूजा- पाठ, दान-पुण्य, तीर्थ-यात्रा आदि में लग जाता है जिसमें आत्मा उसकी श्रद्धा को उस मानव, पित्र या देवता में स्थिर करती है और उस व्यक्ति में उसी मानव, पित्र या देवता के प्रति भक्ति प्रदान करके उनसे मन वॉंछित फल प्रदान कराती है (गीता अध्याय 7ः श्लोक-21,22)। ये सारे प्रदान कराये हुए फल केवल सीमित व क्षणिक होते हैं(गीता अध्याय 7ः श्लोक-23)। मानव से प्राप्त फल व्यक्ति के अन्तकाल के समय समाप्त हो जाते हैं और पित्र व देवता से प्राप्त फल स्वरूप जीव पित्र लोक व देव लोक जाता है और फिर पुण्य समाप्त होने पर मृत्यु लोक आ जाता है(गीता अध्याय 9ः श्लोक-21)। पशु जीवन को अपनाते हुए या केवल पूजापाठ, विद्या, तप, ज्ञान, दान, तीर्थ यात्रा आदि के द्वारा यदि व्यक्ति जन्म-मृत्यु से छुटकारे पाने की कामना करता है, तो इसको उसकी अज्ञानता ही कहा जासकता है क्योंकि प्रत्येक कर्म की गुणवत्ता उसके पीछे छुपे भावों पर निर्भर करती है और भावों को सही दिशा केवल भक्ति ही दे सकती है। जीव कर्म प्रधान है इसीलिए भक्तियोग अर्थात् भक्तिमय कर्म ही जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने का केवल एक मात्र साधन है अतः जीवन में कर्मविधि अर्थात् कर्मयोग अर्थात् भक्तियोग का अत्यन्त महत्व है।

जीव कर्म करने के लिए भी स्वतंत्र है। भाव प्रकृति के तीन गुणों (रज, तम, सत्व) से पोषित होकर इंद्रिय विषयों (रूप, रस,गंध, शब्द, और स्पर्श) से प्रेरित होते हैं (गीता अध्याय 3ः श्लोक-5) और इंद्रियों को कर्म के लिए प्रेरित करते हैं। इंद्रियॉं मन को और मन जीव और बुद्धि को प्रभावित करता है। जब जीव कर्म आसक्त हो जाता है तो कर्म की नींव पड़ती है जिसमें इंद्रिय विषय स्याही का, इंद्रियॉं कलम का और जीव पत्र का काम करते हैं। हर कर्म जीव रूपी पत्र पर छप जाता है जिसको मन रूपी दर्पण से कभी भी देखा जा सकता है। आत्मा प्रत्येक कर्म का संचालन करती है और उसका लेखा-जोखा रखती है अर्थात् साक्षी है (गीता अध्याय 13ः श्लोक-23)। आत्मा गुरू होने के नाते कर्मफल निर्धारित करती है (गीता अध्याय 10ः श्लोक-37,38) । यदि जीव अपने कर्म का प्रत्यार्पण दर्पण में करता है तो वह अपने कर्मफल का भी दीदार कर सकता है। उदाहरणतः यदि कोई किसी का धन छीनता है तो दर्पण में उससे ही धन छीना जाता है, यदि कोई किसी पर कुल्हाड़ी से वार करता है तो दर्पण में कुल्हाड़ी का वार उसकी तरफ ही आता है आदि अर्थात् यदि कोई किसी को धोखा देता है तो वह खुद को ही धोखा दे रहा होता है, यदि कोई किसी की बुराई करता है तो वह खुद की ही बुराई कर रहा होता है और यदि कोई किसी की भलाई कर रहा है तो वह खुद की ही भलाई कर रहा है। सरलता के लिए जीव का व्यवहार ही जीव के प्रति आत्मा का व्यवहार तय करता है। यदि जीव दयालू है तो आत्मा जीव के प्रति दयालू होती है और यदि जीव घृणा करता है तो आत्मा जीव के प्रति घृणा करती है आदि अर्थात् जैसे तुम हो वैसी ही तुम्हारे प्रति आत्मा है क्योंकि जीव चारों तरफ से आत्मा के माया रूपी दर्पण दीवार से घिरा हुआ है। जिस प्रकार ध्वनि करने पर दीवार प्रति ध्वनि पैदा करके ध्वनि को वापस लौटा देती है उसी प्रकार जीव जो भी कर्म करता है तो कर्म माया रूपी दर्पण दीवार से टकरा कर प्रति कर्म के रूप में जीव को प्राप्त होता है और परिणाम स्वरूप कर्म और कर्म के अच्छे व बुरे नतीजे भी जीव को भुगतने पड़ते हैं। जीव अच्छे व बुरे कर्मफलों के नतीजों को भुगतने के लिए जन्म- मृत्यु के चक्रव्यूह में घूमता रहता है। इसके विपरीत यदि दीवार के साथ खड़े होकर दीवार की विपरीत दिशा में ध्वनि करने से ध्वनि वापस नहीं आती, उसी तरह यदि जीव आत्मा के साथ अर्थात् आत्मा के शरणागत होकर कर्म करता है तो कर्म वापस नहीं आते। यदि जीव अपने आप को आत्मा के शरणागत नहीं करता और मैं व अहंकार वश खुद को ही आत्मा मानता है तो जीव अपने ही भवंर जाल में फंस जाता है। फिर उसकी पल-पल परीक्षा चलती है और जीव दर-दर भटकता रहता है। सरलता के लिए, यदि अधिकारी का सेवक खुद को ही अधिकारी समझ ले तो अधिकारी उसकी क्या हालत बना सकता है, यह कोई भी समझ सकता है। निष्कर्ष यह कि इस जग में जीव और जीव के अलावा सब आत्मा का है और आत्मा में ही समाया हुआ है अर्थात् जीव हर तरफ से आत्मा पर निर्भर है। यदि जीव अपने आपको आत्मा के शरणागत कर देता है तो आत्मा जीव को सारे पापों से मुक्त कर देती है अर्थात् माया रूपी दीवार को हटा देती है और उसको अपना आश्रय देती है। आत्मा के शरणागत होते ही जीव को आत्मज्ञान आ जाता है और आत्मज्ञान से कर्मज्ञान आ जाता है अर्थात् जीव आसक्ति व फल इच्छा रहित कर्म करता है और सभी कर्मों को आत्मा को समर्पित कर देता है। जिससे जीव के सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं और जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है(गीता अध्याय 18ः श्लोक-65,66)। प्रत्येक कर्म का कर्मफल है और करतम् सो भरतम् भी अटल सत्य है, केवल समय सीमा बॉधना कठिन है।

मनः

कर्म करने में मन की अहम भूमिका होती है। प्रत्येक कर्म को करने से पहले बुद्धि द्वारा उसका विशलेषण करना अति आवश्यक है और स्थिर बुद्धि द्वारा मन पर अंकुश रखते हुए मन को कर्म करने की आज्ञा प्रदान करनी चाहिए अर्थात् मन को कर्म के लिए स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिए। वैसे तो मन को वश में करना अति कठिन है लेकिन लगातार वैराग्य अभ्यास अर्थात् भौतिक इच्छाओं का त्याग करके इन्द्रियों की तृप्ति व सकाम कर्म में न लिप्त होने के अभ्यास से यह वश में हो जाता है(गीता अध्याय 6ः श्लोक-35) । यदि मन को वश में कर लिया तो मन तुम्हारा परम मित्र बन जाता है और यदि यह वश में नहीं हुआ तो यह सबसे बड़ा तुम्हारा शत्रु बन जाता है (गीता अध्याय 6ः श्लोक-6)। अतः जीव खुद ही अपना मित्र है और खुद ही अपना शत्रु है। सरलता के लिए, जिस तरह शराब की आदत पड़ने पर शराबी का मन शराब की तरफ खींचता है और कोशिश करने पर भी छुड़ाये नहीं छोड़ने देता उसी तरह यदि जीव धीरे धीरे कर्मफल त्याग की आदत पैदा कर लेता है तो उसका मन फिर उसको कर्मफल त्याग की तरफ खींचता है और जीव का मन ही जीव को निष्काम कर्म करने को मजबूर कर देता है। दूसरे शब्दों में जीव को केवल भौतिक इच्छाओं के त्याग की आदत पैदा करनी है। आदत अच्छी हो या बुरी मन उसी की तरफ भागता है। इन्द्रियॉं व इन्द्रिय विषय मन को प्रभावित करते हैं और कर्मों का प्रभाव जीव पर पड़ता है।

भक्ति और मुक्तिः

जीव और आत्मा के बीच दूरी का मूल कारण इन्द्रियॉं हैं। इन्द्रियों के कारण ही जीव माया के संसर्ग में आता है और भिन्न-भिन्न देहों से आवर्तित होकर जन्म-जन्म भटकता रहता है। इस दूरी को दूर करने का सरलतम मार्ग केवल भक्ति (गीता अध्याय 11ः श्लोक-55) है। भक्ति का प्रादुर्भाव कर्मफल के त्याग से होता है। कर्मफल के त्याग से शॉंति व ज्ञान अर्थात् सभी तरफ से आसक्ति खत्म हो जाती है और समभाव की आबृति होती है। धीरे-धीरे शॉंति व ज्ञान, ध्यान का रूप ले लेते हैं तथा ध्यान अर्थात् मन की एकाग्रता, धीरे-धीरे भक्ति में परिवर्तित हो जाता है (गीता अध्याय 12ः श्लोक-8) । भक्ति सभी कर्मों को मन, बुद्धि और श्रद्धा से परमात्मा के लिए करना है जो सभी प्राणी मात्र में समान रूप से विद्यमान है और धर्म रूप से कर्म में विराजमान है (गीता अध्याय 3ः श्लोक-15)। सरलता के लिए, सभी कर्मों को धर्ममय करना है। इस विधि से सभी कर्म निष्काम अर्थात आसक्ति व फल इच्छा से रहित हो जाते हैं जिससे कर्मों के फल का दोष तो खत्म हो जाता है लेकिन कर्मों के फल का नाश नहीं होता अर्थात जीव कर्मों के फल से नहीं बंधता बल्कि कर्म सफल हो जाते हैं और वही कर्म जीव के स्वभाव का रूप ले लेते हैं अर्थात् जीव स्वभाव से आत्मपरायण हो जाता है। अन्त समय में इसी स्वभाव के कारण जीव आत्मा का आश्रय प्राप्त करता है। भक्ति का दूसरा नाम प्रेम है जिसमें आसक्ति व फल इच्छा की कोई जगह नहीं होती। आत्मा सर्वशक्ति मान है और इन्द्रियों का श्रोत भी है (गीता अध्याय 13ः श्लोक-15) । अतः जीव अपने आप को कर्म से नहीं बचा सकता अर्थात् जीव कर्म करने को बाध्य है। इसलिए कर्म सफल करने में ही जीव की सफलता है। ज्ञान, ध्यान व भक्ति ब्रह्म पद तक पहुचने की तीन सीढ़ियॉं हैं। यदि जीव आत्मपरायण हो

जाता है अर्थात् जीव अपने सारे कर्म व कर्मफल आत्मा को समर्पित कर देता है अर्थात् जीव को केवल आत्मा और आत्मा का ही नज़र आता है तो आत्मा जीव को ज्ञान, ध्यान व भक्ति सभी प्रदान कर देती है और ये तीनों सीढ़ियॉं जीव के लिए एक हो जाती हैं क्योंकि जीव आत्मा को जैसे भजता है वैसे ही आत्मा जीव को भजती है (गीता अध्याय 4ः श्लोक-11)।

जीव और आत्मा की दूरी दूर करने की दूसरी विधि संन्यास है जिसको सॉंख्य योग व ज्ञान योग भी कहते हैं। संन्यास योग में जीव सभी भौतिक इच्छाओं से उत्पन्न सभी कर्मों का त्याग कर देता है अर्थात् जीव न तो कर्मफलों से घृणा करता है और न कर्मफलो की इच्छा करता है। धीरे-धीरे जीव ध्यान के द्वारा आत्मा की खोज में लग जाता है और अन्त में आत्मा के शरणागत हो जाता है। लेकिन इस विधि से इंद्रियों को वश में करना अति कठिन है क्योंकि इंद्रियों का श्रोत आत्मा है जिससे किसी भी देहधारी प्राणी के लिए समस्त कर्मों का परित्याग कर पाना असम्भव हो जाता है(गीता अध्याय 18ः श्लोक-11) और यदि कर्म त्याग कर भी देता है तो कर्तापन का त्याग करना अति दुर्लभ हो जाता है। अतः संन्यास योग अर्थात् कर्म त्याग से भक्ति योग अर्थात् कर्म व कर्मफल अर्पण करना अधिक सुलभ है (गीता अध्याय 5ः श्लोक-2)।

आत्म साक्षात्कार के लिए जीव को दृष्टा बनने की जरूरत है। जब व्यक्ति देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि सभी में समान रूप से जीव सखा आत्मा को देखता है और यह ज्ञान हो जाता है कि सब कुछ आत्मा के द्वारा संचालित हो रहा है तो वह दृष्टा बन जाता है। दृष्टा बनकर यदि मनुष्य जीवन में दृश्य व दर्शक नहीं बनता, तो वह आत्म साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है।

वर्णः

श्रीमद्भगवद् गीता में समाज को कर्मानुसार अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के संस्कार रूप स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व सूद्र चार वर्णों में भागित किया गया है (गीता अध्याय 18ः श्लोक-41)। चाहे कोई भी किसी भी कुल में पैदा हुआ हो, उसके कर्म ही उसका वर्ण निर्धारित करते हैं जिसमें जाति का कोई अस्तित्व नहीं है (गीता अध्याय 4ः श्लोक-13)। जीव केवल मनुष्य योनि में ही कर्म कर सकता है बाकी अन्य योनियों में केवल मनुष्य योनि के अर्जित कर्मफल को ही भोगता है अर्थात् पशु, पक्षी, कीट-पतंग, जहॉं तक कि देवगण आदि केवल मनुष्य योनि के कर्मफल का ही भोग भोगते हैं। अतः मनुष्य जीवन और जीवन में कर्मविधि दोनों ही अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं जिसका गीता में सरल भाषा में विवरण किया गया है।

पाप, पुण्य, दुःख - सुखः

प्रत्येक विषय व वस्तु का सत्य केवल एक ही होता है लेकिन जीव निहित विकारों व शारीरिक बोध के कारण अलग-थलग इसका विश्लेषण करता है। शारीरिक बोध के कारण जीव जाति, सगे सम्बन्धी, पद, मकान, विश्वास, क्षेत्र, देश, कुर्सी, पार्टी आदि से बंध जाता है और

लड़ाई -झगड़ा, हत्या, फसाद, स्वार्थ, मोह आदि सांसारिक बुराइयों का कारण बनता है। यदि कोई कर्म सकाम अर्थात् अधर्ममय किया जाता है जिसका सामान्यतः श्रोत स्वार्थ होता है खुद के लिए पाप का रूप ले लेता है। इसके विपरीत यदि कर्म धर्ममय है तो वही कर्म खुद के लिए पुण्य का रूप ले लेता है। पाप और पुण्य दोनों ही जीव का पीछा नहीं छोड़ते, वो कहॉं, कब और किस जन्म में दुःख - सुख के रूप में मिलें कहना कठिन है, लेकिन जीव इनसे बच नहीं सकता, यह निश्चित है। सुख-दुःख मन की अवस्था हैं और जब तक जीव अपने आप को शरीर समझता है तब तक जीव के साथ रहते हैं। ये जीवन के दो पहलू हैं और जीवन में आते- जाते रहते हैं। इनकी उत्पत्ति जीव के पूर्व कर्मफलों से होती है जिनकी जड़ इंद्रीय बोध है (गीता अध्याय 2: श्लोक-14)। गीता मनुष्य को सुख-दुःख में एक समान रहने की शिक्षा देती है (गीता अध्याय 2: श्लोक-38)।

तीन प्रकारः

ज्ञान, बुद्धि, तप, दान, कर्म, कर्ता, यज्ञ, भोजन आदि सत्व, रज, और तम गुणों पर आधारित होने के कारण तीन प्रकार के होते हैं और सात्विक, राजस व तामस कहलाते हैं। जिस ज्ञान से देवता, मनुष्य, पशु - पक्षी, जीव- जन्तु, आदि में एक ही जीव दीखता है तो उस ज्ञान को सात्विक ज्ञान कहते हैं और यदि भिन्न- भिन्न प्रकार का जीव देखा जाता है तो उस ज्ञान को राजस ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान शरीर तक ही सीमित है उसे तामस ज्ञान कहते हैं (गीता अध्याय 18: श्लोक-10,11,12)। बुद्धि, तप, दान, कर्म, कर्ता, यज्ञ आदि का भी इन गुणों के आधार पर विशलेषण किया जाता है। इसी तरह सात्विक भोजन जो जीवन को शुद्ध करने वाला, बल, स्वास्थय व सुख प्रदान करने वाला होता है वह भोजन सात्विक मनुष्य को पसंद आता है जिसमें फल, दूध, अनाज व शाकादि आते हैं। जो भोजन अति गरम, चटपटा, खट्टा तथा जलन उत्पन्न करने वाला होता है वह राजस को पसंद होता है जिसमें दही, नमकीन आदि खट्टे पदार्थ आते हैं जो रोग व दुख देते हैं। और जो भोजन दुर्गंधमय, बासी, व स्वाद हीन होता है उसे तामस भोजन कहते हैं और तामसी प्रकृति के लोगों को पसंद होता है (गीता अध्याय 17: श्लोक-8,9,10)। अच्छा-बुरा वस्तु विशेष के गुणों पर निर्भर करता है अर्थात् किसी वस्तु विशेष का अच्छा-बुरा होना अर्थात सही या गलत उसके सत्व, रज अर्थात् सकाम व तम गुणों के आधार पर कहा जाता है। यदि वस्तु विशेष सत्व गुण में है अर्थात् सात्विक या निष्काम या दूसरों की भलाई वाला है तो उसको अच्छा कहा जाता है और यदि वस्तु विशेष रज अर्थात् स्वार्थमय या तम अर्थात् मोहमय है तो उसको बुरा कहा जाता है। सरलता के लिए, यदि कोई भी कर्म स्वार्थमय किया जाता है, होसकता है कि वर्तमान में वह कर्म खुशी दे व अच्छा लगे लेकिन उसका अन्तिम परिणाम बुरा ही होता है और उस परिणाम का इतिहास के पन्ने गवाही देते हैं। जीव सांसारिक बुराइयों को केवल आत्मपरायण होकर अर्थात् आत्मज्ञान के द्वारा दूर कर सकता है। (गीता अध्याय 2: श्लोक-45)। आत्मज्ञान से जीव मोह, मेरा, तेरा, स्वार्थ, लालच, आदि सांसारिक बुराईयों से परे हो जाता है और कर्तव्यनिष्ठ बन जाता है अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं अर्थात् कर्म ज्ञान आ जाता है। आत्मज्ञान से जीव में आत्मा के गुण आ जाते हैं और गुण आने से जीव का स्वभाव आत्मामय अर्थात् समत्व भाव में हो जाता है (गीता अध्याय 2: श्लोक-50)। समत्व भाव होने से जीव के कर्म भी आत्मपरायण अर्थात् भक्तिमय हो जाते हैं

(गीता अध्याय 2: श्लोक-51)। अतः श्रीमद्भगवद् गीता का अध्ययन मनुष्य के सांसारिक जीवन को सफल बनाने के लिए अति आवश्यक है।

भ्रष्टाचार, आतंकवाद, जुर्म व सामाजिक कुरीतियों से मुक्तिः

श्रीमद्भगवद् गीता जाति, कुल, वर्ग, समाज, सभ्यता, संस्कृति, विश्वास व अन्य सभी भौतिक व्यवस्थाओं से परे है। यही केवल ऐसा ग्रंथ है, जो समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, मनोवैज्ञानिक शास्त्र आदि से परे, तत्व ज्ञान से परिपूर्ण है। भ्रष्टाचार, आतंकवाद, जुर्म व सामाजिक कुरीतियों आदि को समाप्त करने के लिए प्रत्येक वर्ग को जो भी जिस निहित कार्य में लगा हुआ है उनको अपने -अपने धर्म की महत्ता को निभाना ही पड़ेगा। अतः जो भी समाज या देश भ्रष्टाचार, आतंकवाद, जुर्म व सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना चाहता है तो उसको श्रीमद्भगवद् गीता की शिक्षा को अपनाने के शिवाय कोई दूसरा विकल्प नहीं है। अमेरिका जैसे देश में भी ज्यादातर विश्वविद्यालयों में भगवद्गीता पढ़ाई जाती है। यह बहुत बड़ी विडंम्बना और हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपने ही देश में अज्ञान व निहित स्वार्थों के कारण इसको अपना नहीं सकते।

डा. राजवीर सिंह